

विज्ञान शिक्षण में बदलाव की ज़रूरत

भारत में अक्सर रटने-रटाने पर ही ज़ोर दिया जाता है। इससे जब बच्चा विज्ञान की उच्च कक्षाओं में जाता है तो कल्पना शक्ति के अभाव की वज़ह से उसे वहां बेहद कठिनाई होती है। ऐसे में सवाल है कि आखिर विज्ञान शिक्षण में क्या बदलाव किए जाएं कि विद्यार्थी की सोचने-विचारने की क्षमता बढ़ सके और वह रटत-तंत्र के दुष्प्रक्र से बाहर आ सके। इस पर विचार कर रहे हैं एन. पंचापकेसन

क्या स्कूलों और कॉलेजों में विज्ञान विषय पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या कम होती जा रही है? इसका जवाब है, नहीं। अब भी बड़ी संख्या में मेधावी छात्रों में विज्ञान विषय में दाखिला लेने के लिए होड़ लगी रहती है। लेकिन पाठ्यक्रम पूरा करने वाले विद्यार्थियों की संख्या में ज़रूर बढ़ी तेजी से गिरावट आती जा रही है। यानी बीच राह में ही पाठ्यक्रम अधूरा छोड़ने वाले विद्यार्थियों की तादाद बढ़ती जा रही है। इससे विज्ञान विषय में एम.एससी. और पीएच.डी. के लिए प्रतिभाशाली विद्यार्थियों का टोटा पड़ता जा रहा है। यहां सवाल है कि क्या विज्ञान शिक्षण की मौजूदा प्रणाली वाकई में विद्यार्थियों के साथ न्याय कर रही है।

एक प्रमुख सूचना प्रौद्योगिकी कंपनी की मानें तो एम.एस.सी. के विद्यार्थी भी इतने कमज़ोर होते हैं कि उन्हें कंपनी की ज़रूरत के मद्देनज़र नए सिर से प्रशिक्षण देना पड़ता है। इन विद्यार्थियों में पहल करने और किसी मुद्दे पर खुद विचार करने की क्षमता का अभाव होता है। ऐसा संभवतः इसलिए है कि भारत में अन्य तमाम विषयों की तरह विज्ञान की शिक्षा में भी ज़ोर रटने पर दिया जाता है, समझने व जानने पर नहीं।

आखिर इस स्थिति को बदलकर शिक्षा, और खासकर विज्ञान शिक्षा, की गुणवत्ता में किस तरह का सुधार किया जा सकता है? इसके लिए सतही नहीं, बल्कि विद्यार्थी व समाज दोनों को ध्यान में रखते हुए समग्र प्रयासों की ज़रूरत होगी। हमें इस बात पर विचार करना होगा कि विद्यार्थियों में विज्ञान के प्रति रुचि को कैसे बरकरार रखा जाए। पहले हम मौजूदा शिक्षा प्रणाली की बात करते हैं।

भारतीय शिक्षा प्रणाली

आधुनिक भारत में शिक्षा प्रणाली की जड़ें लॉर्ड मैकॉले

के दर्शन में देखी जा सकती हैं। मैकॉले ने ही 1835 में तत्कालीन गवर्नर जनरल विलियम बेंटिक को अंग्रेज़ी व विज्ञान की पढ़ाई को बढ़ावा देने और स्थानीय भाषाओं तथा अरबी व संस्कृत भाषाओं में अध्ययन को सहयोग न देने की सलाह दी थी। इसके पीछे एक सोच यह भी थी कि भारतीयों में यह एहसास पैदा किया जाए कि सीखने-सिखाने के पश्चिमी तरीके उनकी अपनी प्राचीन शिक्षा प्रणाली से कितने श्रेष्ठ हैं। हालांकि आरोप यह लगाया जाता रहा है कि मैकॉले की शिक्षा प्रणाली का एकमात्र मकसद अंग्रेज़ी शासन के लिए क्लर्क पैदा करना था।

इसके बाद से भारतीय शिक्षा प्रणाली में कई बदलाव किए गए हैं। वर्ष 1947 में देश की आज़ादी के बाद शिक्षा प्रणाली को विस्तार दिया गया, लेकिन इसके बावजूद कई कमियां बनी रहीं। इस प्रणाली की सबसे बड़ी खामी यह है कि इसमें विद्यार्थियों व शिक्षकों के बीच परस्पर संवाद का सर्वथा अभाव है। हमारे यहां शुरू से ही अच्छे शिक्षकों की कमी रही है। परीक्षा प्रणाली भी एक बड़ी समस्या बनी हुई है। इसमें वही विद्यार्थी सफल होगा जिसमें रटने की क्षमता हो, भले ही विषय उसे समझ में आ रहा हो अथवा नहीं। फिर इस प्रणाली ने यह भावना भी पैदा कर दी है कि कक्षाओं में जो कुछ पढ़ाया जा रहा है, उसका जीवन की सच्चाइयों से कोई लेना-देना नहीं है। मुख्य मकसद केवल डिग्री हासिल करना है, ज्ञान से मतलब नहीं है। इस जंग लगी शिक्षा प्रणाली के बावजूद कई लोग अपनी मेधा के बल पर कुछ हटकर कार्य करने में सफल रहे हैं और इस प्रकार देश को अच्छे वैज्ञानिक, समाज शास्त्री, साहित्यकार, वकील और अन्य दक्ष पेशेवर हासिल हो सके हैं।

देश की आज़ादी के बाद निजी स्कूलों की संख्या में लगातार इज़ाफा होता गया है जिससे सरकारी स्कूलों के

प्रति उपेक्षा बढ़ी है। इसी का नतीजा है कि शहरी और ग्रामीण दोनों ही इलाकों में सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता में गिरावट आई है।

अब देश में हर व्यक्ति शिक्षा के महत्व को समझने लगा है। इसलिए बेहतर शिक्षा की मांग भी बढ़ती जा रही है। शिक्षा की गुणवत्ता में गिरावट के कई कारण गिनाए जा सकते हैं, जैसे स्कूलों की संख्या में कमी, अच्छे व प्रशिक्षित शिक्षकों का अभाव, स्कूलों में बुनियादी सुविधाएं नहीं होना इत्यादि।

हमारी शिक्षा प्रणाली में विद्यार्थियों को उनके परिवार और माता-पिता की मदद की ज़रूरत होती है। ऐसी स्थिति में उन बच्चों को सबसे ज्यादा दिक्कत होती है जो पढ़े-लिखे परिवारों से नहीं होते। गरीब व अशिक्षित परिवारों के बच्चे पिछड़ जाते हैं क्योंकि उनके अभिभावक उनकी वैसी सहायता नहीं कर पाते हैं, जैसी शिक्षित अभिभावक अपने बच्चों की करते हैं। सभी

बच्चों के लिए समान शिक्षा की वकालत करने वाले देश के लिए यह एक गंभीर समस्या है, जिससे पार पाना होगा।

वैसे घटिया दर्जे की पढ़ाई का संकट केवल हमारे देश में ही नहीं है। अमरीका, ब्रिटेन जैसे विकसित देशों सहित दुनिया के कई देशों में यह एक प्रमुख समस्या बनी हुई है। आठ-दस साल तक स्कूल में पढ़ने के बाद भी कई बच्चे ढंग से लिखना-पढ़ना तक नहीं सीख पाते। गणितीय कौशल का भी विकास नहीं हो पाता है।

विकसित देश आर्थिक रूप से सक्षम हैं और इसलिए वहां इस बात की गारंटी रहती है कि स्कूल-कॉलेज से निकलने के बाद कोई न कोई रोजगार मिल ही जाएगा। इससे वहां शैक्षणिक संस्थानों में विशेष तनाव की स्थिति नहीं रहती है। इसके विपरीत भारत के स्कूलों व कॉलेजों में निराशा का भाव हावी रहता है। नौकरी हासिल करने की अनिश्चितता के कारण तनाव की स्थिति बनी रहती है। इसके चलते कागज़ी योग्यता हासिल करना वास्तव में

सीखने या समझने की बनिस्बत अधिक अहम हो जाता है। हकीकत यह है कि अच्छी तरह पढ़-लिख पाने वाले कई लोगों के लिए भी विज्ञान और विशेषकर गणित को समझना सदैव दुश्कर ही बना रहता है।

भौतिक शास्त्र शिक्षण

पिछले 20 सालों के दौरान विश्व भर में भौतिक शास्त्र शिक्षण में अनुसंधान ने कई बार अपनी दिशाएं बदली है। ग्रैसन के अनुसार 1980 के दशक की शुरुआत में विद्यार्थियों की वैकल्पिक अवधारणाओं में दिलचस्पी देखी जाती थी। 1980 के दशक के मध्य में कम्प्यूटर आधारित शिक्षा में रुचि बढ़ी। 1990 के दशक की शुरुआत में गतिविधि या खोजबीन आधारित अध्यापन किया जाने लगा। 1990 के दशक के उत्तरार्द्ध में भौतिक शिक्षा का अनुसंधान विद्यार्थियों के संज्ञान पर केंद्रित हो गया।

आज भौतिक शास्त्र में जिस बात की कमी खलती है, वह है उचित पाठ्यक्रम सामग्री। आखिर भौतिक शास्त्र में क्या पढ़ाया जाना चाहिए? आज कार्यस्थल पर किसी व्यक्ति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह व्यावहारिक हुनर से कितना लैस है और भावनात्मक रूप से कितना कुशाग्र है। उसमें कितना ज्ञान है, इसके कोई मायने नहीं रह गए हैं। इससे विद्यार्थियों को लगता है कि वे जो कुछ पढ़ रहे हैं, उसका वास्तविक दुनिया से कोई वास्ता नहीं है और दैनिक जीवन में कोई उपयोगिता नहीं है।

अंदरूनी एवं बाह्य दुनिया

संसार को देखने का नज़रिया (विश्व दृष्टि) किसी व्यक्ति के विकास का अभिन्न अंग है। बचपन में जो बोध व्यक्ति को होता है, वही कालांतर में विश्व दृष्टि में बदल जाता है। इशारों, मुद्राओं और अंततः भाषा के ज़रिए संवाद करते हुए उसे महसूस होता है कि दो लोगों की विश्व दृष्टि

में बहुत-सी समानताएं हैं। इससे एक बाहरी दुनिया के बारे में ज्ञान होता है और उस दुनिया की कई सच्चाइयों का भी पता चलता है। तभी यह भी अहसास होता है कि एक अंदरूनी दुनिया भी है जिसके बारे में दूसरों को बता पाना बहुत मुश्किल और कई बार तो बिल्कुल असंभव हो जाता है। उदाहरण के लिए संगीत या अन्य किसी सुंदर अनुभव से हासिल प्रसन्नता को दूसरों तक पहुंचा पाना एक कठिन कार्य होता है।

बाहरी दुनिया भी दो अलग-अलग यथार्थों से मिलकर बनती है। पहला, भौतिक या वैज्ञानिक यथार्थ जो व्यक्ति के विचारों और प्रवृत्ति से बिल्कुल स्वतंत्र होती है और दूसरा, सामाजिक यथार्थ जो विचारों व धारणाओं पर बहुत अधिक निर्भर होता है। यही क्रमशः प्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान हैं।

सामाजिक विज्ञान को बाहरी दुनिया में शामिल करें या अंदरूनी दुनिया में, यह इस बात पर निर्भर है कि वह बाहरी दुनिया प्राकृतिक है या समाज और व्यक्तियों से निर्मित है। जब हम अंदरूनी दुनिया से सामाजिक विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान की ओर बढ़ते हैं तो क्रमशः निश्चितता की ओर बढ़ते हैं। प्राकृतिक विज्ञान में सब कुछ बहुत निश्चित-सा है। विश्व दृष्टि यथार्थ के जितने करीब होगी, मानव जाति व दुनिया के लिए उतना ही लाभदायक रहेगा।

अलग-अलग विषय बाहरी दुनिया के बारे में अलग-अलग व्याख्याएं प्रस्तुत करते हैं। ये अलग-अलग प्रश्नों के जवाब देते हैं। भौतिक शास्त्र के एक अच्छे शिक्षक के लिए ज़रूरी नहीं है कि वह प्राकृतिक विज्ञान को छात्र की अंदरूनी दुनिया के साथ टकराव के रूप में प्रस्तुत करे। अंदरूनी दुनिया में अध्यात्म निवास करता है जबकि बाहरी दुनिया में विज्ञान। इस प्रकार विज्ञान व अध्यात्म में कोई संघर्ष है ही नहीं। शिक्षा का मकसद किसी व्यक्ति में विश्व दृष्टि का सृजन करना है और यही विश्व दृष्टि आगे चलकर उसकी क्षमताओं में इज़ाफा करेगी। इससे समाज को

अधिकतम लाभ मिल सकेगा। दरअसल, शिक्षा में मुख्य जोर सीखने वाले की ओर से दिया जाना चाहिए, न कि शिक्षक या समाज की ओर से। विद्यार्थी केंद्रित शिक्षा के पीछे मुख्य रूप से यही विचार है।

शिक्षा और कक्षा

एक अच्छी स्कूली कक्षा में एक शिक्षक चर्चा के लिए कोई विषय सुझाता है, जैसे स्थानीय स्मारकों से इतिहास कैसे सीखें। फिर विद्यार्थियों को पास स्थित किसी स्मारक पर ले जाया जाता है। यह कुतुब मीनार जैसा कोई प्रख्यात स्मारक भी हो सकता है और कोई कम प्रसिद्ध समाधि या मीनार भी हो सकती है। वहां जाकर शिक्षक एक विद्यार्थी से उस इमारत और उससे जुड़े व्यक्ति के बारे में अपना आकलन पेश करने को कहता है। वह विद्यार्थी अपने शिक्षक के मार्गदर्शन में अन्य विद्यार्थियों

अधिकांश स्कूलों में तो यह होता है कि छात्र को पाठ्यपुस्तक में लिखा पाठ पढ़ने को कह दिया जाता है। शिक्षक उसकी व्याख्या कर देता है और तमाम छात्र उसे लिख लेते हैं। फिर वे उस लिखे हुए को रट लेते हैं और परीक्षा में वैसा ही उत्तर आते हैं।

के साथ चर्चा करता है और इस प्रक्रिया में इतिहास भी सीखता है। इस माध्यम से कला, सामाजिक विज्ञान और यहां तक कि इकॉलॉजी भी सीखी जा सकती है। (वैसे भारत में इस विधि से पढ़ाई बहुत ही कम स्कूलों में होती है। अधिकांश स्कूलों में तो यह होता है कि छात्र को पाठ्यपुस्तक में लिखा पाठ पढ़ने को कह दिया जाता है। शिक्षक उसकी व्याख्या कर देता है और तमाम छात्र उसे लिख लेते हैं। फिर वे उस लिखे हुए को रट लेते हैं और परीक्षा में वैसा ही उत्तर आते हैं।)

लेकिन जब विज्ञान, खासकर भौतिक शास्त्र या रसायन शास्त्र के अध्यापन की बात आती है तो इसमें उक्त प्रकार के पारस्परिक संवाद की संभावना नज़र नहीं आती। विज्ञान में कई परिभाषाएं होती हैं जिन्हें बस सूत्र की भांति पढ़ा दिया जाता है। यहां तक कि प्रायोगिक कक्षाओं में भी छात्रों को अपनी ओर से प्रयोग करने की कोई छूट नहीं मिलती। इससे ही विज्ञान की पढ़ाई बोझ बन जाती है।

परिणाम यही होता है कि विद्यार्थी तथ्यों को समझने की

बजाय रटना पसंद करते हैं। भौतिक शास्त्र में कई संख्यात्मक सवाल भी होते हैं, जिनका हल कुछ निश्चित सूत्रों से किया जाता है। विद्यार्थी यहां भी सवालों को हल करने की तकनीक को याद कर लेते हैं। इसका एक समाधान यह हो सकता है कि विद्यार्थियों को कुछ ऐसे प्रोजेक्ट पर काम करने दिया जाए जिसमें शिक्षक की कम से कम सहायता लेकर उन्हें खुद सोचना और सीखना पड़े। विज्ञान शिक्षण में ऐसी तकनीकें वाकई उपयोगी हो सकती हैं, बशर्ते साल-दर-साल उनका नवीनीकरण किया जाए, क्योंकि हर साल एक ही प्रोजेक्ट होगा, तो विद्यार्थी स्वतंत्र चिंतन छोड़ देंगे।

कहने का मतलब यह है कि विज्ञान शिक्षण केवल सख्त अनुशासन के माहौल में रूखा-सूखा न हो, बल्कि उसमें पूरा मानव उद्यम हो, थोड़ा-से इतिहास और बहुत-सी मानवीयता के साथ। यह शिक्षण कुछ-कुछ सामाजिक विज्ञान के अध्यापन के समान होगा। बहुत-सी गणितीय गणनाओं को लेक्चर के दौरान बताने की बजाय उन्हें हल करने के लिए विद्यार्थियों पर ही छोड़

दिया जाना चाहिए। यह एक प्रकार से स्व-अध्ययन के समान ही होगा, जैसा कोई शोध छात्र करता है। वर्षों पहले गुरु-शिष्य परम्परा में ऐसा ही होता था और महत्वपूर्ण बात यह है कि आज दुनिया के कई देशों में यह प्रणाली तेजी से प्रचलित हो रही है। इस पद्धति में शिक्षक को और अधिक दक्षता दिखानी होगी और प्रयास भी ज़्यादा करने होंगे।

हमें एम.एससी. व पीएच.डी. करने वाले विद्यार्थियों की संख्या को कम करके स्नातक कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए अधिक गहन कार्यक्रम तैयार करना चाहिए। विशेषज्ञता वाले पाठ्यक्रम के स्थान पर सामान्य पाठ्यक्रम कहीं अधिक ज़रूरी हैं। स्नातक स्तर पर विज्ञान के पाठ्यक्रम में विज्ञान की सभी प्रमुख शाखाओं जैसे भौतिकी, रसायन शास्त्र, जीव विज्ञान, गणित व सांख्यिकी को शामिल किया जाना चाहिए। लेकिन इस पर अमल करने से पहले बहुत अधिक अध्ययन व परीक्षण की ज़रूरत होगी।

2006 के नए राष्ट्रीय पाठ्यक्रम में विद्यार्थी केंद्रित शिक्षा पर जोर दिया गया है जो निश्चित रूप से सही कदम है, लेकिन अगर विज्ञान शिक्षा में इसे सफल बनाना है तो विषय विशेषज्ञता को कम करना होगा।

अमरीका में आम तौर पर बहुत से लोग 20 साल की उम्र के बाद भौतिक शास्त्र का अध्ययन शुरू करते हैं और जल्दी ही अच्छे भौतिक शास्त्री बन जाते हैं। वहां विज्ञान शिक्षा के प्रदर्शन में सुधार करने के उद्देश्य से कई नई पद्धतियों पर कार्य किया गया है।

निर्माणवाद

विद्यार्थी केंद्रित शिक्षा को कई बार निर्माणवाद से भी जोड़कर देखा जाता है जिसे हाल ही में हुई चर्चाओं में शिक्षा का नया दर्शन करार दिया गया है। पियाजेट व वायगोत्स्की जैसे नाम भी इस दर्शन के शुरुआती चरण से जुड़े रहे हैं। माना जाता है कि शिक्षा की प्रक्रिया में बच्चा अपने ही ढंग से व अपनी

गति से ज्ञान का निर्माण करता जाता है।

1970 के दशक में ब्रिटेन में 'करके सीखो' शिक्षण पद्धति काफी लोकप्रिय हुई थी। 1990 के दशक में यह अमेरिका में भी प्रचलन में आई। भारत में इसे मध्यप्रदेश के होशंगाबाद ज़िले के कुछ स्कूलों में 'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' के नाम से शुरू किया गया। इस कार्यक्रम में कक्षा 6-8 के विद्यार्थियों को समूहों में प्रयोग करने को कहा जाता था। इसके लिए विद्यार्थियों को कम कीमत वाली प्रयोग सामग्री का एक किट भी दिया जाता था। उनसे प्रेक्षणों के ज़रिए भौतिकी के आर्कमिडीज के सिद्धांत और रसायन-शास्त्र व जीव-विज्ञान के नियमों को प्रतिपादित करने की अपेक्षा रखी जाती थी। जल्दी ही महसूस किया गया कि सही निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए विद्यार्थियों को बाहरी मार्गदर्शन भी देना होगा। यह भी महसूस हुआ कि उनमें और भी कुछ कमियां हैं। छात्रों में कल्पना शक्ति का

विद्यार्थी समझने की बजाय रटना पसंद करते हैं। एक समाधान यह हो सकता है कि विद्यार्थियों को कुछ ऐसे प्रोजेक्ट पर काम करने दिया जाए जिसमें उन्हें खुद सोचना और सीखना पड़े। मगर हर साल एक ही प्रोजेक्ट होगा, तो विद्यार्थी स्वतंत्र चिंतन छोड़ देंगे।

अभाव साफ नज़र आया और साथ ही गणित व दशमलव पद्धति में भी कमजोर पाए गए। यहां तक कि उन्हें लिखे हुए का अनुसरण करने में भी दिक्कत आती थी, क्योंकि वे ढंग से लिख या पढ़ भी नहीं पाते थे। इस वजह से उन्हें विज्ञान सिखाने के लिए अन्य बाहरी प्रयास भी करने पड़े, जैसे पढ़ना-लिखना भी सिखाना पड़ा।

निर्माणवाद के चरम रूप में माना जाता है कि व्यक्ति को

किसी भी प्रकार के कोई बाहरी सहयोग की ज़रूरत नहीं होती है, लेकिन वास्तविकता में ऐसा संभव नहीं है। यह दर्शन शास्त्र का विषय हो सकता है, लेकिन अगर इसे शिक्षण में लागू किया जाता है तो केवल दुविधा ही बढ़ेगी। विज्ञान शिक्षण में भी विद्यार्थी केंद्रित पद्धतियों का इस्तेमाल ज़रूरी है, लेकिन ऐसा पर्याप्त सोच-विचार और योजना के साथ ही किया जाना चाहिए। (स्रोत फीचर्स)